UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182418

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP—391—29-4-72—10,000.

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H 81.6 Accession No. Gn.H.1388

Author B81N

Title

This book should be returned on or before the date last marked below.

नारायणी

कवि
श्रीव्रजकिशोर 'नारायण'

प्रकाशक
श्रीअजन्ता प्रेस लिमिटेड
नयाटोला :: पटना

१ अगस्त १९५०
मूल्य १॥)

सर्वाधिकार सुरक्षित

मुद्रक
श्रीमणिशंकर लाल
श्रीअजन्ता प्रेस लिमिटेड, पटना

परमप्रिय

श्री नारायण राजा

को

कविता का रहस्य

अवस्था की एक विशेष अवधि को, जिसे गदहपचीसी भी कहते हैं; पार किए हुए आज सात वर्ष हो रहे हैं। इन सात वर्षों से मैं लगातार सोचता चला आ रहा हूँ कि कविता लिखे बग़ैर अगर चैन नहीं पड़ता, तो लिख डालने के बाद भी उससे क्या हासिल हो जाता है ? क्षणिक सन्तोष की बात मैं नहीं करता।

कविता या किसी कलाकृति का अभीष्ट क्या है ? यश, धन, प्रभाव, सम्मान या और कुछ ? सम्भव है, कोई महज साधना के लिए ही साधना करता हो। इसी सिलसिले में मैं यह भी सोचता हूँ कि क्या ऐसे अभीष्टों के लिए कविता के अतिरिक्त और कोई साधन नहीं अपनाया जा सकता ? मेरा ख्याल है, अपनाया जा सकता है और अपनाया गया है। राजनीति, धर्म और विज्ञान आदि के महान प्रणेता-नेता इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं।

मुझे भी उन अभीष्टों की प्राप्ति के प्रति व्यामोह है; किन्तु सिवा साहित्याराधन के और कोई प्रवृत्ति मेरी प्रकृति के अनुकूल नहीं। इस कथन को मैंने अनेक बार ठोक-बजाकर जाँच लिया है और देखा है कि मैं केवल साहित्य के लिए ही हूँ और साहित्य मेरे लिए।

स्वयं अमर बनने या किसी व्यक्ति, वस्तु या भाव को अमर बनाने की शाश्वत सत्यता में मेरा विश्वास नहीं। वैज्ञानिक-युग के एटम और हाइड्रोजन बम की दिशा में धुआँधार प्रगति करती हुई इस सभ्यता के खूँखार जबड़े में बैठी, किसी भी मानवीय या प्राकृतिक कृति को मैं चिरस्थायी नहीं समझता। आप अपने को, जरा अपने अहम् से अलग रखकर, लोक-कल्याण की दृष्टि से विचारिए तो अमरता केवल आत्मप्रवंचना ही रह जाती है। सम्भव है, दूसरे भी धोखे में आ जायँ!

प्रस्तुत संग्रह 'नारायणी' मेरी तीसरी कविता-कृति है। 'सिंहनाद' (१९४०) पहली, यशस्विनी (१९४६) दूसरी कृति है। 'नारायणी' में तरह-तरह की रचनाएँ मैंने सोच-समझकर ही रखी हैं। कविता, लघुकथा, लघुलेख, एकांकी या इसी तरह की अनेक साहित्यिक कृतियों के संग्रहों को, 'भानमती का पिटारा' बना देने के पक्ष में मेरे पास तर्क भी हैं।

सन् १९४६ से १९५० के बीच जो रचनाएँ की गई हों, वे एक ही रस, प्रकार, वर्ग या भाव की हों, यह एक सच्चे कलाकार के लिए अत्यन्त कठिन काम है। अगर विभिन्न रचनाओं की प्रेरणाएँ, चिन्तनाएँ

मनोदशाएँ और टेकनीक, विभिन्न समय और स्थिति के परिणाम हैं, तब एक संग्रह में एक प्रकार की ही रचनाओं की माँग, कट्टरता की माँग है। विशिष्ट वादों, धारणाओं, मान्यताओं और सिद्धान्तों के युद्ध में कलाकार क्यों पिसे ?? यह माँग दो प्रकार से ही पूरी की जा सकती है। या तो कलाकार किसी एक वाद, धारणा, मान्यता या सिद्धान्त का ही अन्धानुयायी बन जाय अथवा रोज रात के ठीक दस बजे से बारह बजेतक प्रेरणा, सूझ या इच्छा की परवा किए विना आसन पर जम जाय और चार-पाँच कृतियाँ तैयार करके ही खाना खाय। मैंने एसा करके भी अनेक बार देखा है, किन्तु बराबर असफलता ही हाथ लगी है। अखोर-बखोर या अर्थ-प्राप्ति के लिए लिखना कुछ और बात है। सच्ची और ऊँची कला-कृतियों के लिए तो किसी खास वातावरण की जरूरत है ही। मेरे कई कलाकार मित्र हैं जो घड़ी के घण्टे पर बैठकर कला की फौण्डरी में एक ही 'प्वाइण्ट' के मनों टाइप तैयार कर लेते हैं। उनकी मार्केट में पूछ भी है, प्रतिष्ठा भी। वे कई दृष्टियों से बड़भागी जरूर हैं; मगर मैं उनसे स्पर्द्धा नहीं करता। करने की अन्तप्रेरणा ही नहीं मिलती।

हाँ, एक बात हो सकती है कि चार-पाँच संग्रहों के निकल जाने के बाद, योग्य आलोचक और सम्पादक उनको अनेक वर्गों, रसों या रुचि के अनुसार विभाजित करें और फिर उन्हीं में से अनेक संग्रह विशिष्ट दृष्टिकोण से तैयार करा लिये जायँ।

इस युग के कलाकारों के विकास-पथ में आज चार प्रकार की बाधाएँ उपस्थित हैं। और ये बाधाएँ कीर्ति, अर्थ और प्रभाव-प्राप्ति

के हेतु हैं। १—एक निम्नकोटि का कलाकार प्रसिद्धि और वैभव की अट्टालिका पर आसीन इसलिए हो जाता है कि उसका आत्म-विज्ञापन, और प्रचार 'गोबल्स' को भी मात करता है। २—एक ऐसा भी कलाकार है जो प्रतिभा में कवीन्द्र रवीन्द्र या बर्नार्डशा से कम नहीं है, किन्तु प्रचार, जनसम्पर्क या समर्थन के अभाव में विकास नहीं पाता। ३—एक ऐसा व्यक्ति भी है, जिसे न तो प्रतिभा मिली है और न उसमें कोई सर्जनात्मक शक्ति ही है। बदकिस्मती से, उसका प्रचार भी करने के लिए कोई तैयार नहीं। ४—एक ऐसा कलाकार भी है जो प्रतिभा में अप्रतिम तो है ही, साथ-साथ उसका विज्ञापन या प्रचार-कार्य भी कम जागरूक और शक्तिशाली नहीं है।

इसमें राई-रत्ती भर भी शक नहीं कि चौथे प्रकार के कलाकार से नर तो नर, नारायण भी ईर्ष्या करें!

आज का कलाकार या कोई और आदमी यश, अर्थ, प्रभाव या शक्ति की खोज में निकलता तो है, किन्तु उसे अपनी सामर्थ्य का ठीक ज्ञान नहीं होता। वह या तो अपने पर जरूरत से ज्यादा विश्वास कर लेता है या जरूरत से बहुत कम। दोनों ही स्थितियों में विकास के सन्तुलन का पलड़ा गलत ढंग से ऊपर-नीचे हो जाता है और वजन में कभी घाटे की जगह नफा और नफे के स्थान पर घाटा हो जाता है। और यह दोनों ही दुःस्थितियाँ विकास के लिए बाधक हैं। दूरदर्शिता द्वारा निरभिमान, तटस्थ, जिज्ञासु और विकासोन्मुख रहने पर ही उक्त सन्तुलन का पता चल सकता है। जहाँ अपने या अपने समकालीन अन्य अनुभवों अर्थात् वर्तमान के प्रयोगों से भी नाकामयाबी नजर आए, वहाँ

इतिहास अर्थात् भूतकाल की घटनाओं, और व्यक्तियों के अनुभवों से लाभ उठाना ही सबसे बड़ी दूरदर्शिता है। ऐसी दूरदर्शिता को मूर्खता समझनेवाले ही यह सोचने पर मजबूर हो जाते हैं कि केवल ग़लत लोग ही आगे बढ़ सकते हैं, ठीक लोग नहीं। दूसरी ओर यह भी सोचा जा सकता है कि अगर यही युक्ति सफलतादायक है तो केवल प्रचार से ही सभी अभीष्टों की प्राप्ति क्यों नहीं की जाय ? किन्तु मेरा ख्याल है कि इस बुद्धिवादी युग में कूटनीतिज्ञता किसी एक ही व्यक्ति के बाँटे नहीं पड़ी !

आज के अनेक कलाकार वर्तमान को बिगाड़कर, मर जाने के बाद, सर्वश्रेष्ठता का दिवा-स्वप्न देख रहे हैं। यह तो कोई भी कर सकता है। मैं सोचता हूँ कि जो व्यक्ति वर्तमान की समतल धरती पर चलने की कूबत नहीं रखता, वह भविष्य के दुर्गम पहाड़ों पर कैसे चढ़ सकता है ? भविष्य पर अन्धविश्वास करनेवाला कलाकार अपने पर इतना अधिक विश्वास कर लेता है कि अपने मुकाबले में आनेवाली अनेक पीढ़ियों के कलाकारों की प्रतिभा की, उसे चिन्ता ही नहीं रहती। आगे आनेवाले युग में उस समय के मुकाबले, आज के कलाकारों को कितना हेय और पिछड़ा हुआ समझा जायगा, इसे वह भूल जाता है।

भविष्य का वर्तमान सदैव वर्तमान के वर्तमान को चुनौती देता है। और अगर हम उसे तुरत नहीं स्वीकारते तो हम कापुरुष हैं, कलाकार नहीं।

ऊपर कही गई धारणाओं से मैंने अपने कलाकार को हमेशा दूर रखा है। मुझे वर्तमान द्वारा प्राप्त प्रसन्नता, भविष्य मे आनेवाली प्रसन्नता से कहीं अधिक बुद्धिसंगत लगती है।

एक बात और ! 'स्वान्तः सुखाय' के आधार पर ही मैं सब कुछ नहीं करता। कलाकृतियों में तो और ज्यादा सावधान रहने की चेष्टा करता हूँ। मैं अपनी रचनाओं में सम्पूर्ण सृष्टि को लेकर चलने की चेष्टा करता हूँ, जिसमें पुरुष भी है और प्रकृति भी। यदा-कदा का मेरा "मैं" भी मानवता का प्रतीक बनकर ही दम्भभरी बातें बोल लेता है। आप उसमें अहम्मन्यता न ढूंढ़ें। हाँ, यह सम्भव है कि मैं जो कुछ कहना चाहूँ, उसे अपने पल्ले पड़ी प्रतिभा के कारण आपके पूर्ण सन्तोष का कारण नहीं बना सकूँ, ऐसी स्थिति में आप उसे मेरी सीमाओं का ही कसूर समझें और उनके बदले मुझे हा क्षमा प्रदान करें। और अन्त में इतना कहने का हक मुझे जरूर दें कि मैंने अपनी कृतियों को जान-बूझकर, कहीं भी ठगने की कोशिश नहीं की।

पटना
पहली अगस्त, १९५०

ब्रजकिशोर 'नारायण'

सूची

१—जीत में ही क्या मिला ?	...	...	१
२—कवि की चिन्ता है चिर नवीन	...	...	४
३—एक दीया जल रहा है	...	...	७
४—व्याकरण और कविता	...	..	९
५—मर्मी प्रश्न	...	...	१२
६—आँधी के मेघ !	...	...	१५
७—कविता के प्रति	...	...	१७
८—लिख रहा मैं भी	...	...	१९
९—सफलता से	...	...	२१
१०—प्रकृति और पुरुष	...	...	२४
११—भादो की रात	...	...	२५
१२—क्या अर्थ ऐसे प्यार का ?	...	...	२७
१३—प्रतिकूल दिशा	...	...	२९
१४—मद्यपे तत्त्वचिन्ता	...	...	३१
१५—चाँद सपना लग रहा है	...	...	३३
१६—भक्तप्रवर तुलसी	...	...	३५
१७—महामानव निराला	...	...	३७

१८—महाकवि पन्त ३९
१९—महाकवि दिनकर ४१
२०—मित्र ! बने तुम कम्युनिस्ट कब ? ४३
२१—माया भी मिली है उसे ४९
२२—ब्रह्मचारी की रजाई ५३
२३—प्रतिभा तेजस्विनी ५८
२४—जिन्दगी बदल गई ६१
२५—कल्पना उतरी धरा पर ६३
२६—कवि ६६
२७—गजल ६८
२८—बयालिस का विद्रोह ७०
२९—विजय ? ७३
३०—भविष्य की कल्पना ७५
३१—निराशा भी तो दो ७८
३२—जल रहा दिया ८०
३३—विद्रोह का गायक बना हूँ ! ८२
३४—अवसरवादी ८५
३५—रंगीनियाँ ८७
३६—तारे आये, रात हो गई ! ८८

नारायणी

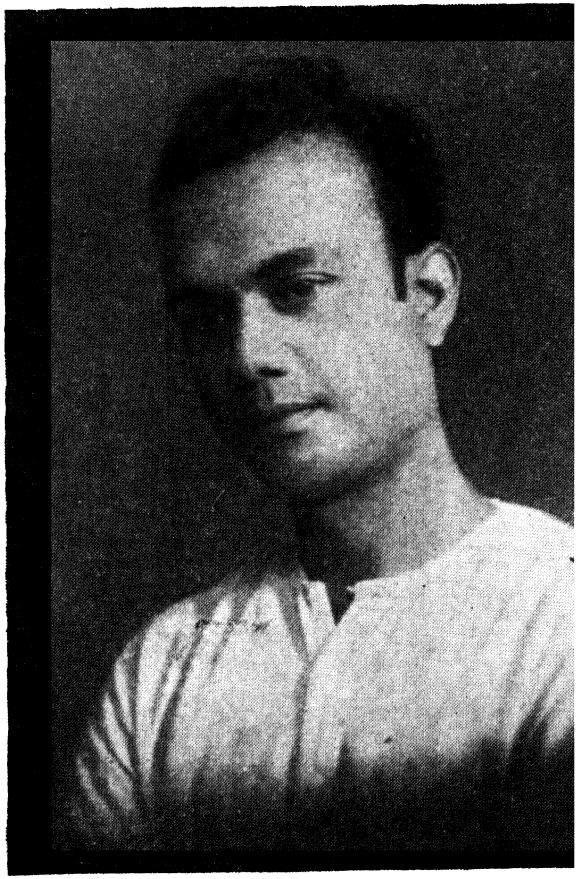

'नारायण'

जीत में ही क्या मिला ?

जीत में ही क्या मिला, जो हार का भय मान लूं ?

जीत पर तो आपदाएँ ही चढ़ीं
प्रीत में भी शृंखलाएँ ही बढ़ीं
हर्ष का अबतक न अनुभव हो सका
प्राण पर निष्प्राण तसवीरें कढ़ीं

सृष्टि में ही क्या कि अब संहार का भय मान लूं ?

सोच में नन्दन बना वीरान है
कुंज में छाया हुआ सुनसान है
मेघ धुँधला और धरती धूल है
क्षितिज पर मँडरा रहा तूफान है

गुरु खिला तो क्या मिला जो खार का भय मान लूं ?

बीच में भाटा झकोरे जा रहा
किन्तु उठता ज्वार पर मैं आ रहा
अब न किश्ती की जरूरत है रही
लहर पर ही लेटकर सुस्ता रहा
तीर पर ही क्या मिला जो धार का भय मान लूं ?

शक्ति की ही साधना जग की रही
युक्ति के पग पर लुढ़कती है मही
उग्र प्रतिभा पर विभव नाराज है
और प्रतिभा भी न कर पाती सही
कलम में ही क्या कि अब तलवार का भय मान लूं ?

प्यार में पलता रहा तो क्या मिला ?
स्वयं को छलता रहा तो क्या मिला ?
सुख, सुरा, सौन्दर्य के आमोद में
कौन सा ढाहा अभी तक है किला ?
स्वर्ण से ही क्या मिला जो क्षार का भय मान लूं ?

जब दशा मन की हुई विपरीत है
वेदना मेरी, तुम्हारा गीत है
चैन कैसे मिल सके बेचैन को
जब उपेक्षा की नयी ही रीत है ?
फूल से ही क्या कि अब अंगार का भय मान लूं ?

चुप रहा, देखा किया तो क्या किया ?
अलग ही बैठा रहा तो क्या किया ?
बढ़ गई दुनिया बढ़ाकर बोल ही
मौन मैंने व्यर्थ वीणा को दिया
मीड़ में ही क्या कि अब झंकार का भय मान लूं ?

ताप मुझ में, किन्तु जग गलता रहा
स्नेह मुझ में और वह जलता रहा
तुम तिमिर में छिप गईं क्या देखकर
मैं तुम्हारे चिह्न पर चलता रहा
तुम रहीं क्या कम कि इस संसार का भय मान लूं ?

जल बताया जा रहा क्यों क्षीर है,
बूंद, घट, सरि, सिन्धु में जब नीर है ?
बूंद में नीरत्व की परिपूर्णता
सूत में जैसे समाया चीर है
बूंद में ही क्या कि पारावार का भय मान लूं ?

सींचता जड़ रह गया मैं रात-दिन
किन्तु चाँदी ने लिये सब फूल गिन
फल कहाँ जब फूल ही तोड़ा गया
देह मन की क्या, गए जब प्राण छिन
मूल ने ही क्या दिया, जो डार का भय मान लूं ?
जीत में ही क्या मिला, जो हार का भय मान लूं ?

कवि की चिन्ता है चिरनवीन

जग को नवीनता की चिन्ता
कवि की चिन्ता है चिरनवीन

साँसों का खग वय के नभ में
प्रति यति से गति ले बढ़ जाता
पर तोल रहा है अनुभव के
दिग्भ्रम का श्रम घटता जाता

जग को मिट्टी की ही ममता
पर कवि अम्बर तक में विलीन

कल्पना नृत्य में है बेसुध
चिन्तना मीड़ पर तनी हुई
भावना टेक दुहराती है
प्रौढ़ता मूर्च्छना बनी हुई

जग सौ तारों पर काँप रहा
कवि साध रहा है एक बीन

जीवन की यह सीमित सरिता
जा रही मृत्यु के सागर में
संघर्ष लहर पर लहर मार
बालू भर देता गागर में

जग खड़ा काठ बनकर तट पर
पर कवि धारा का चपल मीन !

सुषमा की कलियाँ खिलती हैं
कोमल अंगों के वृन्तों पर
पर गुण पराग बन उड़ जाता
सुन काले अलि का स्वार्थी स्वर

जग को काँटों का ही गौरव
पर कवि सौरभ के भी अधीन

मिट्टी की काया से दीपक
सोने की लौ है उगल रहा
मसि स्नेह, कलम की बाती से
व्यतिक्रम के तम को निगल रहा

जगको यदि उकसाने का सुख
तो कवि भी जलने में प्रवीन

दे रहा चुनौती प्रतिभा को
पग-पग पर वैभव का गुमान
अधिकार अधर पर आँधी धर
दे रहा कला को दया-दान !

जग लूट-लूटकर है महान
कवि लुटा-लुटाकर हुआ हान।

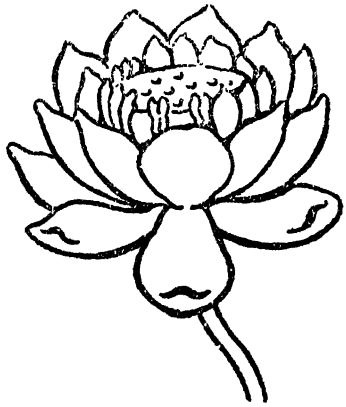

एक दीया जल रहा है

देहरी पर एक दीया जल रहा है

घोर तम चारों तरफ, दीया अकेला
काँपती है लौ कि सम्मुख मृत्यु-बेला
आजतक देखी नहीं ऐसी घटा है
दामिनी की भी भयानक-सी छटा है

इस तपस्वी पर हिमालय गल रहा है

जल रहा जिस ज्योति के हित, वह अलग है
है तिमिर में स्वयं, पर रुकता न पग है
एक दीया, हैं हजारों प्राण पागल
प्राण का उत्सर्ग ही क्या प्यार का फल ?

जल रहा है स्नेह, स्नेही जल रहा है

स्नेह खोकर और साथी बुझ गए हैं
'स्वयं जलना, मत जलाना' कह गए हैं
मृत्तिका के पात्र की दुखमय कहानी
कालिमा जिसकी जलन की है निशानी
क्षणिक जीवन, किन्तु यौवन ढल रहा है

ज्योति घर में, पर डगर पर है अँधेरा
इसलिए पथ खोजता है अब सबेरा
दीप का कण - कण तपन से कह रहा है
'तुम सँभालो, स्वप्न मेरा ढह रहा है
दर्द को मेरी तरह किसने सहा है ?'

बह रही आँधी तमिस्रा मुस्कुराती
लौ हवा की हर लहर पर लहर जाती
काँपता है दीप थर - थर, सोचता है—
'काल अपना ग्रास क्या अब खोजता है ?'
हाय ! उर का नेह उर को छल रहा है
देहरी पर एक दीया जल रहा है

व्याकरण और कविता

कविता अल्हड़ बन बढ़ी एक दिन इठलाती
कल्पना, भावना, चिन्ता की मादकता भर
व्याकरण हाथ में पाश लिये आया, बोला—
"देखूँ, कैसे तू जाती है घर के बाहर

दुनिया आदर्शों का कड़ियों में बँधी हुई
घेरे में ही रहना होगा तुझ को, नारी!
यह उच्छृंखल अभियान! उल्लंघन रेखा का?
तू कर सकती अपराध नहीं इतना भारी!

मेरी आज्ञा है!—तुझे पालना ही होगी
तेरे आभूषण हैं मेरे विकराल छन्द
तू नहीं अकेली जा सकती यह रूप लिये।"
कविता बोली—"चुप रहो जरठ, मुँह करो बन्द!

मैं पर्वत की निर्झरिणी जिसके कूल नहीं
हूँ तीव्र वेग से राह बनाती मनचाही
मेरे प्रवाह से चट्टानें थर्रा उठतीं
हिमवान - पंथ पर चलनेवाली मैं राही

मेरी उर्मिल इच्छा यौवन का प्रथम चरण
मेरी गति से चंचलता है चंचल बनती
मुझको सीमा में कहाँ बाँध सकता कोई
मैं विधि-निषेध को तोड़-फोड़ कढ़ती, बढ़ती

है नहीं नियन्त्रण हो सकता मेरे मन पर
मैं चित्र नहीं, ध्वनि को हूँ चमकानेवाली
मेरी पायल की रुनझुन को क्या कोस रहे
मैं नहीं नगाड़े की धुन पर गानेवाली

तुम रहो कूप में, उसको ही सरिता समझो
मेरी मंजिल है कहाँ, तुम्हें क्या बतलाऊँ ?
मेरा स्वतन्त्र अभिसार आत्मगति से प्रेरित
केवल काया पर प्राण लिये क्या लुट जाऊँ ?

मैं अमरबेल ! मुझ में क्यारी क्या बाँध रहे ?
मैं बँधी नहीं हूँ वहाँ मित्र ! मुट्ठी खोलो !
विद्युत का पथ कब रोक सके बादल के दल
उल्का पीछे है मुड़ी कभी ? यह तो बोलो

क्यों क्षुद्र रूढ़ियों की धनुही पर डोर खींच
रस की गागर पर तीर चलाना चाह रहे ?
यह गागर तुम से फूट नहीं सकती, हरगिज
इस गागर की गहराई सागर थाह रहे

अन्धे अनुचर ! तुम राह दिखाना क्या जानो
मै जहाँ - जहाँ बल खाती हूँ, तुम रुकते हो
दिल की धड़कन पर हाथ धरो ! सचसच बोलो
इन चल चरणों को कभी पकड़ पा सकते हो ?

मर्मी प्रश्न

थी नौका रुकती सरित पार करनेको
तुम क्या दे देतीं तृण सागर तरनेको ?
मैं पड़ा तिमिर में जब सब भेद छिपाए
तुम क्यों रख जातीं ज्योति प्राण हरने को ?

मेरी भावुकता आकुलता की जननी
मेरी रचना मेरे मानसकी सजनी
जब संध्या ही बेचैन बनाती मुझको
तुम क्यों आतीं बनकर चन्दा की रजनी ?

चिन्तना बना देती अब गति को मंथर
सिर पर घहराने लगता जैसे अम्बर
मैं बन जाता गम्भीर, गँवाकर जीवन
तुम क्यों आतीं मुस्कान नयन में भरकर ?

था सर्प बन गया, समझ रूप को चन्दन
जब तो बचपन लगता ममता का बन्धन
थक गया स्वर्ग के पर्वत पर चल-चलकर
तुम व्यर्थ रख रहीं थके चरण पर यौवन !

माना, तुम विद्युत बनतीं सघन गगन में
माना, जीवन तुम भरतीं कभी मरण में
पर मन कहता, छायी ही रहे उदासी
तुम क्यों भरतीं उल्लास अमर उन्मन में ?

'साधना प्रेरणाके पीछे है चलती'—
यह मन्त्र पढ़ा तुम क्यों मेरा मन छलतीं ?
जब जलन मिट चुका मिट्टी की काया से
तो स्नेहहीन दीपक पर क्या तुम जलतीं ?

जाती गर्मी, सावन में बदरी घिरती
तुम रिमझिम बनकर अंग-अंगपर गिरतीं
पर सूखे तरु पर जल है व्यर्थ निछावर
क्यों प्रीति-बूँद बन शुष्क देह पर झरतीं ?

रस-कलश लिए तुम पत्थर से टकरातीं ?
क्यों ललित-लता को कण्टक से लिपटातीं ?
है जहरीली जिसकी किस्मत की प्याली
क्यों उस मनुष्य को सुधा पिलाने आतीं ?

हैं प्रश्न बेतुके; यह मेरी लाचारी
तुम भी तो उत्तर देते-देते हारी
कुछ कहो या कि चुप रहो, तुम्हारी इच्छा
मैं भूल न सकता—"तुम नर की ही नारी!"

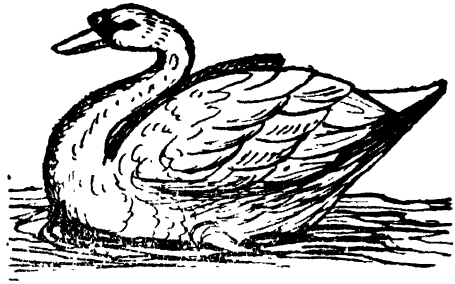

आँधी के मेघ !

ओ आँधी के मेघ ! कड़कते हो तुम किसपर
महावात के दास ! गरजते हो तुम किसपर
अस्त-व्यस्त है वस्त्र, नग्न है हौली काया
धूल भरा प्रत्यंग, धूसरित धूमिल छाया

झंझा के इंगित पर नभ में नाच नाचते
झोंकों की भौहों में अपना भाग्य बाँचते
कण - कण पर है छाप लगी भू के रजकण की
गति-यति की इच्छा; इच्छा है मारुत-मन की

डोल रहे दर - दर दिग्भ्रम में मारे-मारे
बोल रहे ऊँचे स्वर में, पर हारे-हारे
कहाँ तड़ित का तेज वज्र को धोनेवाला ?
कहाँ गगन का प्यार शान्ति से सोनेवाला ?

नहीं रह गया आज तुम्हारा स्वर अपना - सा
क्रियाशील जागरण बना सूना, सपना - सा
छिपी भला क्षुद्रता कहीं भीषण गर्जन से ?
बढ़ा नहीं संहार कभी सुन्दर सर्जन से

हे जीवन के पुंज ! गिरो बूंदों में भू पर
करो अवनि की छाती ठण्ढी हिम - सा झर-झर
धरो धरा के रोम - रोम में शीतल पानी
भरो जरा की गई उमर में नई जवानी

ओ आँधी के मेघ ! रुको संकट के पथ पर
तूफानों के मित्र ! झुको मत रिपु के पग पर
मिट्टा के नन्हे अंकुर अपना मुँह खोले—
"झरो ! झरो !! जलती धरती पर"—धीरे बोले।

कविता के प्रति

दर्द में मेरे, कहा करता तुम्हारा प्यार—
"प्यार से बढ़कर न कोई और है उपचार"
साँस की आशा तुम्हीं पर आज केन्द्रीभूत
है अकिंचन कवि, लुटा दो रूप का आगार
रात के धुँधले गगन की तारिकाएँ शुभ्र
चाँद को हैं दे रही अपनी मधुर मनुहार
तुम उठो, छोड़ो अवनि को, कल्पना की देवि !
पंख पर धर लो, दिखा दो छवि सुरभि की धार

समय से ममता न जीवन का तनिक है मोह
बीन बनकर तुम जहाँ हो, कर रही झंकार
साधना आदर्श की सीमा गई है भूल
भावना ही बन रही है साध्य का आधार
"प्रौढ़ मानव का न यह है चिह्न"—कहता लोक
बुद्धिवादी कह रहे तुम को "निरर्थक भार !"
किन्तु कल का युग तुम्हारा ही लिये आदर्श
मानवों का रच सकेगा एक नव संसार

स्वर्ण का रथ, स्वर्ग का पथ मैं न सकता खोज
किस तरह मानूँ जगत का विषभरा आभार ?
आत्मगौरव का हिमालय छू न सकता धूल
उग्रता चाहे दिला दे विश्व से धिक्कार !
मैं न मानूँगा कि प्रतिभा है विभव से तुच्छ
कौन कह सकता कला से उच्च है आहार ?
विषमता जग की बना सकती न मुझ को व्यग्र
गर्दिशों के बीच मेरा चल रहा अभिसार

जन्म के ही पूर्व की तुम संगिनी हो देवि !
मृत्यु के भी बाद तुम से मैं रहूँ साकार
भावना की स्वामिनी ! मस्तिष्क की आराध्य !
है परिस्थिति और परिजन का विषम व्यवहार
द्वेष, दुख, दारिद्र्य, यौवन या जरा आ जाय
तुम कभी मत छीनना मेरा उचित अधिकार
मैं उपेक्षित भी रहूँ या सफलता से दूर
किन्तु पुलकित प्राण हैं पा तुम सरिस उपहार !

लिख रहा मैं भी

लिख रहा मैं भी, मगर भाषा नयी है
लक्ष्य तो है एक, परिभाषा नयी है
बढ़ रहा हूँ मैं सृजन का भार लेकर,
पर, निराशा पर अमर आशा जयी है

ध्येय मेरी साधना का और कुछ है
शब्द - स्वर पर ही धरा के प्राण विह्वल
मूल की अपरूपता जाने विना ही
फूल पर होता निछावर नयन चंचल

हूँ उखड़ती साँस पर जीवन टिकाए,
और यह जीवन लहर पर बस रहा है
चाँद का उर है कि जिसमें कालिमा भी,
पर सुधा ही है कि नभ में हँस रहा है

शब्द, अर्थ, अनर्थ मेरा साध्य कैसा
यह प्रकृति हां है कि कुछ कहला रही है
राह पर पर्वत नहीं, हैं पैर मेरे
व्योम की शबनम जिन्हें नहला रही है

अब अकारण द्वेष या आभार जग के
तिमिर पथ का दूर करते जा रहे हैं
जीविका के कार्य की प्रतिकूलता से
प्रेरणा में प्राण भरते जा रहे हैं

मूल्य की चिन्ता नहीं बहुमूल्य को है
बाँध स्रष्टा को न सकती क्षुद्र माया
गरल की ज्वाला निरन्तर जो पिए हो
ताप उसको क्या भला दे चन्द्र - छाया !

है दिशा निर्दिष्ट, अब परवाह किसकी ?
चल रहा हूँ, मार्ग निर्मित हो रहा है
है नहीं अनुकूलता का प्यार पग पर
प्रगति से पर पन्थ विस्मित हो रहा है !

सफलता से

प्रेय मेरी ! भूलकर आओ न मेरे पास

प्राप्ति के तट पर अकेली मत बनो आसान
प्रेरणा के पग निरन्तर ही करो गतिमान
साध्य की सीमा निकट कर दी अगर कर भूल
तो नहीं मुस्का सकेंगे साधना के फूल

रंग बनकर दृग न देखो, पवन को दो वास
प्रेय मेरी ! भूलकर आओ न मेरे पास

सिन्धु के ऊपर उछलने में भरा कुछ भेद
बूँद भू तक ही ठहरना मानती है खेद
चाँद प्यारा इसलिए लगता कि रहता दूर
मैं निकट रहकर बनाऊँ क्यों स्वयं को क्रूर

प्यार के सुकुमार दृग में भी सुलादो त्रास
प्रेय मेरी ! भूलकर आओ न मेरे पास !

कल्पना के जीव को सौंपो न सुख साकार
भावना की सूक्ष्मता को दो न तुम आकार
प्रार्थना लो, पर न लो आराधना को छीन
दर्द दो, पर मत बनाओ कामना को दीन

जलन दे दो मरन तक, पर मत पुराओ आस
प्रेय मेरी ! भूलकर आओ न मेरे पास

साधना को प्रगति देता विरह का आवेग
सर्जना में शक्ति भरता है करुण उद्वेग
प्यार से बढ़कर कहीं है प्यार का सम्वाद
स्पर्श से मादक बहुत ज्यादा किसी की याद

ध्यान में बसकर अतः देती रहो आभास
प्रेय मेरी ! भूलकर आओ न मेरे पास

आजतक जब - जब मुझे मिलती रही है सिद्धि
मैं सदा देता रहा हूँ शिथिलता को वृद्धि
इस कथन का अर्थ तुम समझो नहीं कुछ और
वेग दो उत्साह को तुम, हर कदम हर ठौर

यह नहीं कि अलग रहो दे नेह को सन्यास
प्रेय मेरी ! भूलकर आओ न मेरे पास

पास रहकर प्यार पाना है सुगम - सी बात
प्रेयसी के साथ पशु भी काट लेते रात
पर कठिन कितना कि दूरी ही बढ़ा दे प्रीत
ताल सुर हों अलग, पर निकले सहज संगीत

सफलता दो, किन्तु बनने दो न उसका दास
प्रेय मेरी ! भूलकर आओ न मेरे पास

तुम वही मञ्जिल बनो, जिसकी क्षितिज तक राह
प्राप्य वैसी ही बनो, जिसकी न मिटती चाह
चल चरण मेरे बनें, अवसान का सम्मान
रात मेरी, दिवस को दे अरुण का अभिमान

मत बनो सागर सुलभ, बाँटो सुधा की प्यास
प्रेय मेरी ! भूलकर आओ न मेरे पास

प्रकृति और पुरुष

अवनि बोली—'मैं तुम्हारी चेतना हूँ ठोस'
आग बोली—'मैं तुम्हारी जिन्दगी का जोश'

गगन बोला—'मैं करूँगा कल्पना साकार'
पवन बोला—'मैं तुम्हारी प्रगति का आधार'

नीर बोला—'मैं सजलता तरलता गतिवान'
पुरुष बोला—'तुम सबों का, किन्तु, मैं भगवान !'

भादो की रात

यह भादो की रात, नदी की चंचल धारा
यह रिमझिम बरसात, धार से दूर किनारा
चला अवनि पर जल, अंबर में जलद चल रहा
चला धरा पर तिमिर, गगन में तीर चल रहा

झाँक रहे बादल की खिड़की से दो तारे
विस्मित दृग से देख रहा मैं कौतुक सारे

भू पर काली रात, गगन में काला बादल
मन में काली बात, नयन में काला काजल
अंधकार ही अंधकार छाया अणु-अणु में
बहा जा रहा मन माया के मधु प्लावन में

तुम हँसकर कामना स्वर्ग की जगा रहीं क्यों ?
हरे पेड़ में आग अलग से लगा रहीं क्यों ?

उड़ा जा रहा देखो, पंछी एक अकेला
प्राणों से है विलग मिलन की विह्वल बेला
भार बन रही हैं पावस में भींगी पाँखें
नभ गीला, गीली धरती है, गीली आँखें

तुम-हम एक निलय के वासी, किन्तु दूर क्यों ?
सुंदरतम कोमल काया का कार्य क्रूर क्यों ?

है भादो की रात ! अरे, क्यों अलग खड़ीं तुम ?
रिमझिम है बरसात, लाज में व्यर्थ गड़ीं तुम
चला अवनि पर जल, चलकर तुम भी आ जाओ
बही धरा पर धार, लहर बनकर तुम आओ

अरी, जवानी हरी करो ! जीवन दो क्षण का
गरज रही जब घटा, मोह क्या मोहक तन का ?

क्या अर्थ ऐसे प्यार का ?

क्या अर्थ ऐसे प्यार का ?
जिसमें न सुधबुध खो सक
जिसका न अपना हो सका
लगती रहीं आँखें बहुत
पर मन न थोड़ा सो सका

जब अलि कली से अलग हो
तो लाभ क्या गुंजार का ?
क्या अर्थ ऐसे प्यार का ?

तुम दूर ही रहती रहीं
मजबूरियाँ सहती रहीं
हर साँस की हर लहर पर
नौका बनी बहती रहीं

मँझधार ही माँझी जहाँ
तो क्या पता पतवार का ?
क्या अर्थ ऐसे प्यार का ?

चंदा छिपा था मेघ म
तुम भी छिपीं बरसात में
करता भला मनुहार क्या
रूठीं भला जब रात में !

है जब किनारा ही मिला
इस पार क्या, उस पार क्या ?
क्या अर्थ ऐसे प्यार का ?

प्रतिकूल दिशा

मुझको जग प्यार किया करता

मैं उसके सुख से सुखी नहीं
मैं उसके दुख से दुखी नहीं
मेरी दुनिया जब रोती है
उसकी दुनिया तब दुखी नहीं

फिर भी अनजाने में आकर
मुझसे मनुहार किया करता

वह सागर है तो हुआ करे
मेरी सरिता में नीर नहीं
मैं नौका हूँ तो बहा करू
उसके सागर के तीर नहीं

मुझ एकाकी सूखे सरि का
फिर भा वह भार लिया करता

उससे मेरी प्रतिकूल दिशा
वह तन का, मैं मन का वासी
लक्ष्मी का है वह पदपूजक
पर वह मेरे पग की दासी

मैं ठुकराता चलता धन को
पर वह आभार लिया करता
मुझको जग प्यार किया करता

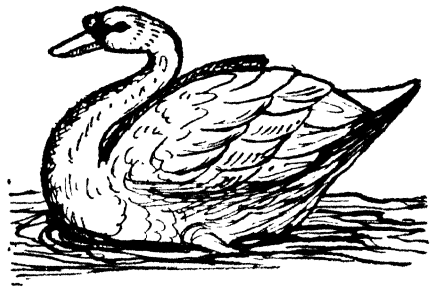

मद्यपे-तत्त्व-चिन्ता

"नील-नभ, भू-हरित धिक् !
यदि निधन में जीवन समापन
श्रमिक बन कर क्यों करे यह
श्रेष्ठ मानव समय-यापन ?

कटु परिश्रम से मधुरतर
स्वप्नमय यह नीक-निद्रा
भवजनित अवसाद से बढ़कर
सुभग यह सुखद-तन्द्रा

श्रमरहित जब कुसुम पल्लव
श्रमरहित जब तुच्छ डाली
फिर प्रकृति का महत् मानव
क्यों करे निज नियति काली ?

मत्त बन रे मर्त्य - मानव
अधर पर धर मदिर प्याली
देखता रह तारिकामय
शर्वरी मृदु शान्त काली"

कह हुआ वह क्षीव नीरव
मैं उठा उडु-अवलि गिनता
दार्शनिकता से भरी क्या
मद्यपों की तत्त्व - चिन्ता ?

महाकवि टेनीसन के 'लोटस ईटर' का संक्षिप्त छायानुवाद ।

चाँद सपना लग रहा है

बहुत दिन के बाद आयी है उदासी, दर्द मेरा जग रहा है
चाँदनी छाई हुई है हर तरफ, पर चाँद सपना लग रहा है

देखता हूँ सामने है एक दुनिया, जो अलग से हँस रही है
मृत्यु की ममता निठुर बनकर भुजा में, प्राण-प्रण को कस रही है

याद धीरे भूल को उकसा रही है, क्या नहीं मैं जानता हूँ ?
मैं नहीं हूँ आज अपने में निहित, पर दर्द को पहचानता हूँ

है भविष्यत् के प्रहर उत्सुक बने - से, प्रश्न मुझ से पूछते हैं
"—चुप खड़े हो, व्योम में क्या देखते हो ? दिन न अगले सूझते हैं ?"

भावना तन्द्रामयी छवि आँकती है, तन अचल पर प्राण उन्मन
मूक हैं संगीत के स्वर, भूलते - से, छन्द पर अनजान बन्धन

है नयन की दृष्टि अपलक, ढूँढ़ती कुछ, शून्य पर सम्मुख खड़ा है
उड़ रहा है कल्पना का खग गगन में, पाँव पर भू में गड़ा है

आज की ऐसी उदासी है कि आँखें दृष्टि तजकर भागती हैं
है पलक सोया, हृदय की दो दुआएँ सेज पर भी जागती हैं

याद ही परिणाम जब मधुमय मिलन का, तो उसी में पल रहा हूँ
एक ही है आग ठण्डी इस जगत की, बस उसी में जल रहा हूँ

यह उदासी साधना की संगिनी भी बन रही है, जानता हूँ
यह उदासी प्राण तक में घुल रही है, इस समय तो मानता हूँ

पर न जाने, कौन इस भावुक हृदय में बैठ सिसकी भर रहा है
था जिन्हें युग से सँजोये प्यार भर कर आज उनको हर रहा है

खुल गया निर्लिप्तता का भेद सारा, था जिसे अबतक छिपाये
मेघ जो आकर गये थे, वे न जाने आज फिर क्यों लौट आये ?

अयि उदासी ! अब तुम्हीं मुझको सँभालो, ज्ञान मेरा खो रहा है
मैं नहीं हूँ इस अवस्था में कि समझूँ भान कैसा हो रहा है !

भक्तप्रवर तुलसी

हे महाकवि ! शारदा के सुत, अमर - वर
राम - सीता - रूप के पावन पुजारी
था पराजय के तिमिर में राष्ट्र का पथ
ज्योति से तुमने नई संसृति सँवारी

जन्म से लय तक लिये दुर्धर्ष जीवन
सुपथ के संघर्ष को संबल बनाते
तुम रहे बढ़ते निरंतर अथक गति से
कलह के, मतभेद के बंधन छुड़ाते

मान कर प्रतिशब्द को परब्रह्म प्रभु - सा
भाव को तुमने अलौकिक कल्पना दी
काव्य को यश - अर्थ का साधन समझकर
थी नहीं तुमने कला की साधना की !

मनुज को भगवान तक कहला दिया जो
कवि ! तुम्हारी ही कलम की शक्ति है वह !
नाम जग भर के अधर पर बस गया जो
कवि ! तुम्हारी ही अमर अनुरक्ति है वह !

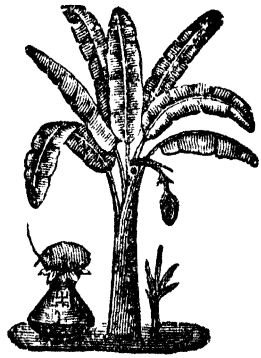

महामानव निराला

आकार, रूप, आकृति, आकर्षण अनुपम
चिन्तना, मनन, दर्शन में क्या लौकिक सम ?
औदार्य, ओज, उग्रता, नम्रता, शमता
विश्वास, धैर्य पा गए तुम्हारी ममता

तुम-सा उदाहरण मिला न परिभाषा को
तुम-सा व्यक्तित्व न प्राप्त किसी भाषा को
साहित्य - सृष्टि की दसों दिशा के दशरथ !
तुमने गिरि के सिर पर सिरजा अपना पथ !

प्रतिरोध, क्रोध, अज्ञान, द्वेष - घन छाया
इनको प्रदीप्त जय ने कब शीश झुकाया ?
पग रहे प्रगति की गति को पीछे तजते
मग रहे तुम्हारे फूल शूल से सजते

तुमको पाकर बीसवीं सदी अभिमानी
हिन्दी भाषा को मिला न तुम-सा दानी
घटना है ! भव में आविर्भाव तुम्हारा
तुम से उन्नत साहित्यिक भाल हमारा

हे कलाकाय ! सर्वतोमुखी प्रतिभासित
हे सूर्यकान्त ! तुमसे छवि भी आलोकित
हे वाणी के अवतार ! नवल युग-स्रष्टा
तुम हो ज्वलन्त, जीवन्त, अमर, जगत्वष्टा !

महाकवि पन्त

एक दिन कविता प्रकृति के शैल से
कल्पना के घर, गगन में उड़ गई
और जब लौटी धरा की धूलि पर
कीर्त्ति की बन मूर्त्ति तुम में खो गई

कुमुद के कोमल दलों के अधर से
सुरभि का संगीत भव सुनने लगा
वह छटा छिटकी तुम्हारे चाँद से
चाँदनी का मन भुवन हरने लगा

तुम लगे अभिव्यक्ति में सुर साधने
भाव के भावुक चरण चलने लगे
मिलन का सुख-स्नेह देकर दीप को
खुद विरह की लौ बने जलने लगे

त्रस्त मानवता लगी आश्वस्त हो—
सोचने—'तुम किस कला के प्राण हो ?
कौन सी हो साधना साकार तुम
किस सुधामय साध्य के सन्धान हो ?"

कौन वह रचना कि जिसके रूप को
दे रहे तुम सुमन सी सुकुमारता
युगप्रवर्तक ! स्वयं सुषमा कह रही—
"अमर मैं अब हो गई, हे देवता !"

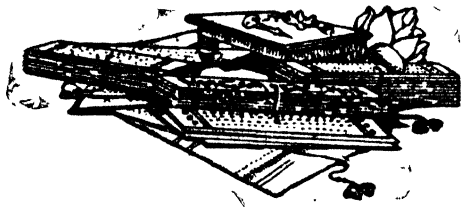

महाकवि दिनकर

तम तुमुल चीर
तुम उगे अरुण उदयाचल पर !
कविता-निशि की काली काया
हो गई प्रभा से ओत-प्रोत
किरणों की पायल उठी बोल
गिरि पर सरिता की लहर लोल
मिट्टी का पुलकित रोम-रोम
आलोकित-प्रमुदित वृहत् व्योम
युग के जन-जन के मन-वन में
छाया वर वाणी का वसंत
पतझर का पीला पात झरा
पल्लव में पुलकित प्रात भर
नाचने लगीं कलियाँ-अलियाँ

हँस उठा जागरण एक बार
खिल गए स्वप्नमय हृदय-कमल
जड़ लगे देखने दिवा-स्वप्न !
कितनों को तो तुम दिखे नहीं
इसमे किसका अपराध दोष ?
हे प्रभापुंज ! देदीप्यमान !
हे ज्योतिर्पिंड ! जाज्वल्यमान !
जबतक प्राची की दिशा, काव्य की प्रेय दिशा
तुम रूढ़ि-तमिस्रा पर विजयी हे क्रांतिपिता !
जीवन को नवजीवन देता तव शब्द-शब्द
धूमिल संध्या में कहता है, रवि रक्तिम बन—
'दुख की रातें कट जाएँगी
आऊँगा फिर कल सुबह-सुबह
पर दुख पर जय पाना सीखो
जीवन जब है संघर्ष भरा।'

'मित्र ! बने तुम कम्युनिस्ट कब ?'

कवि जी बैठे बोल रहे हैं—
"मुझे ज्ञात है, मरने पर खबरें निकलेंगी
प्रथम पृष्ठ पर, बड़े-बड़े मोटे हरफों में
काले - काले बोर्डर होंगे
साथ - साथ फोटो भी होगा
सपादक का अग्रलेख भी।
सभा लगेगी और कहेंगे साहित्यिकगण
—बहुत बड़ा कवि था, लेखक था
आलोचक था, वक्ता भी था
हास्य व्यंग्य का मर्मी ज्ञाता
उपन्यास नाटक का दानी
और कहानी के क्या कहने !
जिंदादिल था, स्वाभिमान से ओतप्रोत था !

प्रतिभाशाली, उच्च विचारक
उग्र और मस्ती में डूबा
सोच - समझकर जो निश्चित करता था वह पथ
उसपर आजीवन अड़ता था
बाधाओं से, दुष्टजनों से
और मौत से भी लड़ता था।

धन्य - धन्य ! बोलेंगे श्रोता
चंदा होगा, मूर्त्ति बनेगी
और प्रकाशक मंत्रिगणों से
मिलकर स्मारक खड़ा करेंगे।
जनता ही यह माँग करेगी
स्मारक होगा, ताजमहल - सा, गंगा-तट पर
मृत्यु - दिवस पर मेला अद्‌भुत लगा करेगा
देश - देश के कलाकार होंगे आमंत्रित।
उसमें होगा एक प्रदर्शन
जिसमें मेरे पत्र रहेंगे
चित्र रहेंगे, ग्रंथ रहेंगे
सम्मतियाँ भी होंगी अनगिन
एक - एक पुस्तक के लाखों
निकल आएँगे संस्करण भी
महँगी से महँगी कीमत के।

पाठ्य पुस्तकों की आमद से
बेटे - पोते मोटर लेंगे
महल बनेगा मंसूरी में
यूरप की यात्रा भी होगी
और सभी मेरे संबंधी
फटेहाल से एक बार ही लखपति होंगे
इज्जत होगी, धाक जमेगी
पूंजीपतियों की दुनिया में
इससे कम क्या और चाहिए ?
मेरा तो बस नाम अमर होगा युग - युग तक
कालिदास टैगोर आदि की
स्वर्ण-पंक्ति में स्थान मिलेगा
पुरखे, पुत्र और पोते इत्यादि वगैरह
तर जाएँगे मेरे यश से
यश द्वारा अर्जित रुपयों से !
मेरे जन्म - मरण की तिथियाँ
देश - देश में मना करेंगी ।
अन्वेषण, संधान चलेंगे
'थीसिस' लिखकर 'डीलिट्' लेंगे
बड़े - बड़े विद्वान विज्ञ मेरे ग्रंथों पर ।
और एक दिन वह भी आएगा निश्चय ही
राष्ट्र - विधाता गौरीशंकर की चोटी से बोल उठेगा

—'भारत फिर से हो गुलाम पर
हम न कभी इस कलाकार को छोड़ सकेंगे
सभी लोग मर जायँ भले ही
इस कवि को हम तज न सकेंगे।"

× × × ×

इतना कहकर आँख मूँद ली कलाकार ने
मस्त हो गया सुधबुध खोकर
लगा विचरने स्वप्न-लोक में।

मैंने पूछा—'इसीलिए भूखों मरते हो ?
यह तो बोलो ! अगर तुम्हारे-
स्वप्न सत्य भी हुए एक दिन
तो क्या कल से अन्न मिलेगा खाने भर को ?
वस्त्र मिलेगा घर में सबको ?
पापी पैसों के अभाव में
तड़प - तड़पकर रोनेवाले
शिशुओं को क्या
पीनेभर को दूध मिलेगा ?
चरगज्जी साड़ी में बीसों
लगे हुए पैबंद आज जो
नहीं दिखेंगे कल - परसों से ?
नई, धुली साड़ियाँ मिलेंगी

उस नारी को, जिसने तुमपर
अपना जीवन होम कर दिया ?
बनी आज कंकाल तुम्हारी कला जुगाए !
या सिर पर वह गिरी हुई छत
खड़ी करा देगा कोई कल ?
अगर नहीं कल - परसों तक यह होनेवाला
लानत है ऐसे भविष्य पर
जिसमे सिर्फ जयंती होगी, भाषण होंगे
ग्रंथ बनेंगे, मूर्त्ति बनेगी, मेले होंगे
और तुम्हारी दुखद मृत्यु के बाद
तुम्हारे पुत्र - पौत्र को
स्वर्ण मिलेगा, स्वर्ग मिलेगा
और 'डाक्टरेट' विद्वानों को !
आँख रहे क्यों मूँद महाकवि !
खोलो ! खोलो !
देखो इस खूँखार तथ्य को खुला आँख से !
वर्त्तमान की ओ यथार्थ की खुली आँख से !!
ओ भविष्य के कटे पंख पर उड़नेवाले !
नहीं कल्पना की ही आँखें
जग में देखा करतीं सब कुछ !'

× × × ×

× × ×

मेरा इतना ही कहना था
तुरत बिगड़कर खड़े हो गए
बोले कविजी क्रुद्ध भाव से
—मित्र ! बने तुम कम्युनिस्ट कब ?"

माया भी मिली है उसे

जीवन ही मिला है नहीं
मिट्टी के पुतले को
काया के साथ-साथ
माया भी मिली है उसे
मन की चपलता और
आत्मा की प्रशांति से।
ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, क्षमा
प्रेम, शोक, साहस, भय
घृणा, मोह, त्याग, भक्ति
श्रद्धा, श्रम, शंका, क्षय
आलस, उत्कंठा, हर्ष, लज्जा और भ्रम, न्याय
आशा, निराशा तथा स्वाभिमान, मूर्खता भी
दंभ, तृप्ति, क्रूरता, सरलता और वक्रता भी

विद्रोह की दुर्दान्त प्रतिक्रिया
कृपणता, उदारता और
विजय की कामना, पराजय की अनिच्छा
कीर्त्ति और कांचन की
सुविधा और सौंदर्य की
भोग और ऐश्वर्य की
सेवा और उत्सर्ग की
योग और निर्वेद की
आकुल अभिलाषा और
अमर बन जाने की दुर्दम महत्त्वाकांक्षा !
वह भी अमरता कैसी ?
जग की, तन की क्षण-भंगुरता में !!
एटम, हाइड्रोजन बम के उन्नत जमाने में !!!
अपने को ठगने का कितना प्यारा प्रयास है !
मानव क्या सचमुच प्रवृत्तियों का दास है ?
मैं तो सोचता हूँ—'क्या ये आवश्यक हैं
मानव के जीवन में,
संकट, संग्राम-ग्रस्त-जीवन में ?
मानव क्या पागल बन जाएगा ?
और स्वयं को बनाकर, समाज को, संसार को
और सारे पदार्थों को
पागल बना डालेगा अपने कदाचार से ?

क्या ये प्रवृत्तियाँ ही
मिनटों, घंटों, दिनों और बरसों तक
मानव को रखता हैं अत्यधिक कार्यव्यस्त तथा
अधिक से अधिक मस्त अपनी ही उधेड़-बुन में !

जितने ही शरीर हैं, उतनी ही धुनें हैं
उतनी ही लगन, उद्देश्य और सिद्धांत हैं
और हर कोई हर से प्रगतिशील और बुद्धिसंगत है !!

और इसी तरह मानव अस्त-व्यस्त है
प्रतिकूलता से त्रस्त है
अहम्मन्यता का अभ्यस्त है
जीता है, जबतक मरता नहीं
और मरने को आता है
तब 'आह !' करके कहता है—
'क्या अधिक से अधिक मनुष्य
अधिक से अधिक समय तक
याद न करेंगे मुझे ?
क्यों न करेंगे जब मैं
एकमात्र सर्वश्रेष्ठ हूँ
दूसरे निकृष्ट हैं, अवसरवादी हैं
अयोग्य और कपटी हैं
मुझसे यदि आगे भी बढ़े हैं वे

उसका भी रहस्य केवल मैं ही जानता हूँ
उनकी उन्नति में छल है, फरेब है
किस्मत का सहारा है, मित्रों का बढ़ावा है
माननेवालों की मूर्खता और जहालत ह !
और है उन दुष्टों के पिछले जन्मों की कमाई भी
तिकड़म, व्यर्थ का प्रचार तथा
दुराचार, अत्याचार भी !!
मगर आनेवाला समय ही बताएगा कि
कितने गहरे पानी में थे वे !
और मैं कितना महान्, न भूतो न भविष्यति था !!!"

ब्रह्मचारी की रजाई

अखण्ड ब्रह्मचारी की एकमात्र संगिनी
लिपट कर सोता वह, जिसके संग रात-भर
चिपक जाती नख से शिख तक वह
जोंक जैसी, बबूल की गोंद जैसी
कैसी गर्म ! कितनी नर्म !!
आदमकद, इन्द्रधनुषी !!
मुलायम जैसे मक्खन हो
शर्मरहित ज्यूँ मंगलामुखी
आज्ञाकारी तातारी बाँदी-सा
चमकीली चाँदी-सी
सुख में, दुख में
हँसी में, गमी में
दादा को, पोते को
बाप को, बेटे को
दस घण्टे मजे देती !

शर्म है सिर्फ बाहर निकलने में
भय है दुनिया की नजरों का
उल्लुओं की फबतियों का
फिर भी वह ब्रह्मचारी की रजाई है
अखण्ड ब्रह्मचारी की
बाल ब्रह्मचारी की !
बँधी है कच्चे धागों में
धागे भला बाँध कैसे पाते ब्रह्मचारिणी को
धागे ये हैं प्रेम के
टाँके गए नेम से
बालों का 'कास्टर हेयर आयल' चिपका पड़ा है
डेढ़ हाथ की लम्बाई और चौड़ाई में !
कभी कभी रूई के भीतर से
तिनका है चुभता
फिर भी
चितकबरी, रँगीली भली लगती
और छाती पर लोट जाती
'कानन' बनकर कान में हा कहती है—
"देखो न, कम्बख्त रूई तुम्हें कष्ट देती है
रह-रहकर चुभती है
है तो निगोड़ी यह

रूखी-सी, सूखी-सी
कौए की बीट-जैसी
हड्डियों का ढेर, जैसे जल गया हो, गल गया हो
रद्दी कागजों का ढेर
वर्षा में सड़ गया हो
थूक हो अथवा किसी राक्षस का
आकर गिर गया हो तुम्हारी देह पर !"
सौत चितकबरी की
रूई देवी पूछती हैं
घूँघट निकालकर, पर्दे की ओट से—
"मुझी में खटमल और जूँएँ पड़ा करती हैं ?
मुझी में तेल चिपका है, हाँड़ी की कालिख ज्यूँ ?"
खैर जाने दीजिए, घर की लड़ाई है !
सब जगह होती है !
लेकिन देखिए न
इन्सान ने रजाई पर
कितनी अक्ल खरची है
कैसी बुद्धि बरती है
सर्दी में लिपट जाती
गर्मी में अलग होती
बाँधी जाती बोरे में

छप्पर में लटका दी जाती
जैसे फाँसी पर चढ़ा दी गई हो
ब्रह्मचारी का ब्रह्मचर्य नष्ट करने के जुर्म में !
सिर्फ फाँसी ही नहीं, चूहे भी तङ्ग करते हैं
कीड़े भी काटते हैं
उफ् ! इतना बड़ा आविष्कार और यह व्यवहार ?
लानत है ! इन्सान तेरी
बेकदरी और कमजोरी पर !
इसी से तो तू रोग में, भोग में
दुख में, शोक में, घर में, बाहर भी
व्यापार में, नौकरी में
यहाँ तक कि मसान में भी जलता है !
और मरने पर तो भूत बनकर
घरपर मँड़राता है
पेड़ हड़राता है
जग को डराता है
और यह ब्रह्मचारा की रजाई !
रात भर करती रहती
पापी मनुष्यों की भलाई !
सात महीने छत में
पाँच मास सुहागरात में ।

हर साल नया लुत्फ, नया मजा
पलँग हो, खाट हो
पुआल हो, टाट हो
देती है गर्मी, आराम और आलिंगन-सुख
पूस की हड्डी हिलाती रात में
फागुन के गुलाबी सर्दीवाले प्रात में
आपादमस्तक चिपककर पैदा करती जोश और होश !
बस यहीं पर बोलिए, ब्रह्मचारीजी !
पाकिस्तान-हिन्दुस्तान से जरा ऊपर उठकर—
' रजाई जिन्दाबाद ! रजाई जिन्दाबाद !!"

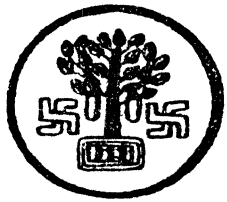

प्रतिभा तेजस्विनी

जीवन-गगन में
काली बदली गरीबी की।
बिजली-सी कौंधती है
प्रतिभा तेजस्विनी !
क्षण-भर में दिग्-दिगन्त
चौंक जाते चाँदी बन !
तिमिरावृत बीहड़ वन
कण्टक सुसज्जित पथ
चित्रित हो उठते हैं
आँखों के दर्पण में।
ठिठकी-सी कामना,
दिशा-भ्रम-ग्रस्त भाव

बरसों से क्लान्त कवि-कल्पना का रोम-रोम
ज्योतित हो उठता है
जाग्रत हो जाता है
देखकर क्षणिक प्रकाश
लखकर पतली लकीर
ज्योतिर्मय विद्युत् की
चीरती वह जैसे ही
वैषम्य-मेघमाला को
मेघमाला मानों गिरि-कज्जल का उड़ता हो
ढँकने को पौरुष का प्रखर तेज
साहस का सौरभ !!
देखता नहीं है किन्तु,
जानता नहीं है जरा,
आ रही है आँधी
किस गति से, क्षितिज से
हिलाती रूढ़िवादिता को
घिनौने पूँजीवाद को
जिसमें अस्तित्व लुप्त
होगा कालिमा का
और कलुषित निराशा का
और देशद्रोहियों का भी।

चमकेगी निश्चिन्त हो प्रतिभा तेजस्विनी
पूर्णिमा की चाँदनी बन
शाश्वत हो, जीवन भर
जीवन-गगन में !!

जिन्दगी बदल गयी

प्रीति तो मिली नहीं कि पीर साथ मिल गयी
तीर तो मिला नहीं कि तीव्र धार आ गयी
जीत जो हुई उसीके साथ हार मिल गयी
ज़िन्दगी मिली नहीं कि जिन्दगी बदल गयी

दर्द तो बढ़ा नहीं कि दिल भी मुस्कुरा उठा
दर्द तो मिटा नहीं कि दिल ही तिलमिला उठा
अश्रु बह गये कि तबीयत जरा बहल गयी
मौत आ गयी नहीं कि ज़िन्दगी बदल गयी

प्यार के निशीथ में खड़ा रहा, जड़ा रहा
प्यार के प्रभात में विमुग्ध बन पड़ा रहा
साध तो सधी नहीं कि साधना मचल पड़ी
प्राण रह गये नहीं कि जिन्दगी बदल गयी

शान्ति तो मिली नहीं विराग में, विरोध में
क्रान्ति है पली कभी नहीं विषण्ण क्रोध में
कार्य ही बना सका धरा की सृष्टि को नयी
कर्म बढ़ गया नहीं कि जिन्दगी बदल गयी

वासना, उपासना से ध्येय तो मिला नहीं
चिन्तना अचेतना में चैन कुछ मिला नहीं
जब कभी कलामयी विभावना सरस हुई
विश्व भी बदल गया औ जिन्दगी बदल गयी

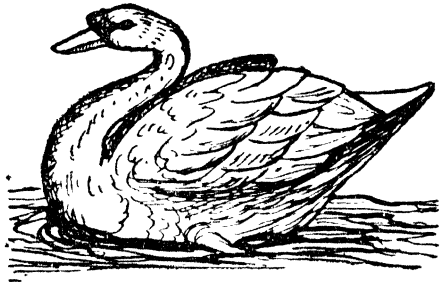

कल्पना उतरी धरा पर

मुट्ठियों में बाँधकर तूफान
कल्पना उतरी धरा पर आज
भावना कोमल बनी उद्दाम
धमनियों में खून की आवाज

सृष्टि कम्पित, चौंकते दिक्पाल
हिल उठा है स्वर्ण का संसार
ले रहा यौवन खड़ा अँगड़ाइयाँ
नाचती सिर पर नयी तलवार

शोषकों का ढह रहा प्रासाद
शोषितों का क्रुद्ध है हुंकार
तिमिर में जलती मशालें क्रान्ति की
गा रही हैं रागिनी खूंखार

खून में भींगी अरुण की रश्मियाँ
चाँद में डूबी अरे ! तलवार
चल पड़ी चण्डी महा अभिसारिका-
रूप में रण का कुटिल शृंगार

न्याय का यह रोष, यह अधिकार
माँगता तुमसे विषम बलिदान
साधना की सिद्धि ! हे कवि की प्रिये!
तुम जगा दो पीड़ितों के प्राण

गूँजता हो काव्य का प्रतिशब्द
खौलता स्वर में तरुण प्रतिशोध
जल रही हों आग-सी सब पंक्तियाँ
जालिमों का ध्वस्त हो अवरोध

चल पड़ें गिरि पर सबल तरुणाइयाँ
दूर जिस से जा पड़े अपवाद
चमकती बिजली जहाँ हो साम्य की
साथ में ले न्याय का घननाद

हर कदम कौटिल्य से परिपूर्ण
तेज तन में और मन में जोश
गरजता सागर प्रभञ्जन को लिये
उड़ चले हैं वैरियों के होश

झनकती पायल, बजा डमरू विकट
ध्वनित ताण्डव नृत्य में सुरताल
तीसरा दृग खोलकर भूतेश
बढ़रहे हैं साथ ले कंकाल

प्रगतिमय पग पर हिमालय झुक गया
सफल वाणी और वीणा आज
प्राप्त कर कविता विजय के पंख
सज रही प्रत्यंग में नव साज !

कवि

मरण का कर वरण, जिसने अमरता ली जीत
शोक भी शरमा गया, पा मधुर जिसकी प्रीत
हो उठा मरु सरस जिसकी प्राप्त कर मनुहार
बन गई पतझर जिसे पा, सुरभियुक्त बहार

जड़ जगत जिसका न बन पाया कभी आधार
विवशता, प्रतिकूलता की मृत्यु बन साकार
प्राण में जो भर रहा है भावना, रस, प्यार
वह स्वयं ही शारदा का है पुरुष-अवतार

रूप-यौवन का उपासक, कामना का गान
गान जिसके, कल्पना का कर रहे संधान
अन्न, वसन, निवास का जिसको न किंचित ध्यान
स्वयं में तल्लीन जिसकी लेखनी छविमान

फूल जिसकी शक्ति ले, हो शूल का अवसान
मृत्तिका बन जाय जिसको परस स्वर्ण समान
खुद चले असि पर, मगर देता रहे जो त्राण
आग उर में, पर अधर पर खेलती मुस्कान

विश्व का दुख-सुख उसे कब कर सका हैरान ?
बढ़ रहा है ऋण, बढ़े, पर क्यों रुकेगा दान ?
क्षुद्र बादल से कहीं है घिर सका पवमान ?
कीर्त्ति देता जा रहा जग का कपट अपमान

पूर्णता का नहीं, प्रतिभा का उसे अभिमान
धन नहीं, गुण का बना वह अन्यतम आदान
आज जग उसका भले ही मत करे सम्मान
किन्तु कल, काली अमा के बाद है दिनमान !

गजल

साधन-विहीन कर दिया है मुझको विश्व ने
फिर भी उसे विचार दिये जा रहा हूँ मैं
पग पग पै कण्टकों का है बिस्तर बिछा हुआ
लोहू में किन्तु प्यार दिये जा रहा हूँ मैं

आँखों में है छलक रहा खारा समुद्र किन्तु
जग को पीयूषधार दिये जा रहा हूँ मैं
काँटों पै बिखर जाती हैं शबनम-सी पँखुरियाँ
धागे में उनको फिर भी सिये जा रहा हूँ मैं

पतझर में रो रही हैं जब बुलबुल की हसरतें
उपवन को तब बहार दिये जा रहा हूँ मैं
है आदि-अन्त हानि से भरा हुआ, मगर
पराजयों को प्यार किये जा रहा हूँ मैं

आती नहीं मस्ती में कभी मतलबी दुनिया
साहित्य की सुरा को पिये जा रहा हूँ मैं
शब्दों में रख रहा हूँ कलेजे को चीरकर
खूनी कटार साथ लिये जा रहा हूँ मैं

आफत की घटा छायी है जीवन के गगन में
आयी है मौत और जिये जा रहा हूँ मैं
चारों तरफ से गिर रही हैं मुझ पै बिजलियाँ
उनसे भी पर सिंगार किये जा रहा हूँ मैं

बयालिस का विद्रोह

एक दिन, वह दिन नहीं, तूफान
बिजलियों विषमय घटाओं से भरा तूफान !
धराशायी जिस दिवस था शत्रु का सम्मान
नाचता था गेंद - सा भूगाल

उठ रहे जिस ओर थे वे कदम
कदम क्या, टूटे हुए गिरि शिखर !
उड़ रही थी धूल नभ के शीर्ष पर
भागता था शत्रुओं का गोल

पढ़ रहे थे मृत्यु का सन्देश
विजय के, विद्रोह के अंगार
नौ अगस्ती ऐतिहासिक प्रलय
सन् बयालिस का भयावह साल

शृंखला से मुक्ति का शुभ काल
और वह दिन आह, जिस दिन देश के अभिमान—
पूज्य बापू, साथ सेना के हुए थे कैद
खबर आयी और तत्क्षण ही हुआ भूकम्प !

हाँ ! बगावत से भरा भूकम्प !!
रक्त से लथपथ, धधकती क्रान्ति के
जर्रे - जर्रे में बड़ा भूकम्प
सुमन-सा शिशु और जर्जर वृद्ध

मुक्ति के सन्धान में था लीन !
विष उगलती थी जवानी - सर्पिणी
गरजते थे गर्भ में भी भ्रूण
ज्वार सा उठता हुआ वह जोश

देखकर थी मौत भी खामोश
किन्तु जब दगने लगी थी तोप
दुश्मनों की इन्तकामी तोप
जल उठी प्रतिशोध की दावाग्नि

बह चली सूखी हुई बलिभूमि
छा गए यमराज - से जल्लाद
कर उठी चारो दिशा चीत्कार
व्याप्त था सब ओर हाहाकार

धुल गयी सुकुमारियों की माँग
जेल में था बन्द बागी हाय !
मूक था हारा हुआ विद्रोह !
बेड़ियों में बँध गया विद्रोह !

भृकुटि में तनकर रुका विद्रोह
हर जगह व्यभिचार, अत्याचार
हर जगह था नाचता संहार
निरपराध जवानियों के रक्त में
रँग गयी था दमन की तलवार !!!

विजय ?

यह विजय पराजय से क्या कम ?

पग-पग पर ठोकर लगती है
मग-मग में मौत मचलती है
अब के सुख की तो बात कहाँ
कल की आशा भी जलती है

जब किस्मत में ही लिखा हुआ
है कहना—'खुश हैं लेकर गम',
तो विजय पराजय से क्या कम ?

कल की ही तो है बात अभी
जीते - मरते थे साथ सभी
पर लोहू के प्यासे बनकर
मिल जाते हम अब कभी - कभी

छा रहा दृष्टि में अंधकार
रस्सी में विषधर का विभ्रम
यह विजय पराजय से क्या कम ?

माना हमने, आजाद हुए
पर कितने घर आबाद हुए ?
लड़कर मरना तो अच्छा था
पर घर में ही बरबाद हुए

मरना जिनको था, बचे रहे
घुट गया गरीबों का ही दम
यह विजय पराजय से क्या कम ??

भविष्य की कल्पना

आज का दिन शोक-दुख से दूर
मधुर है दिन से रुपहली रात
दूध से धोयी हुई यह रात
बज रही मुरली नदी के तीर

प्रेयसी के पाँव में मंजीर
दीखती ज्यूँ उर्वशी साकार
बिखरती है अधर से मधु गन्ध
मदिर नयनों से सरस उल्लास

स्नेह-सरि की लहर है उद्दाम
झूमता है आज कर में जाम
रस - भरी वसुधा, सरस आकाश
बह रहा कैसा मधुर वातास

नाचते हैं पेड़ के प्रिय पात
झूमता गाता कुसुम का गात
दे रही श्यामा सुधा-सी तान
सत्य ही यह देश है आजाद !

कूकती कोयल प्रकृति - सहचरी
घहरते घन, नाचते हैं मोर
वीर जननी के अजिर से आज
आ रहा है स्वस्थ शिशु का शोर

मुक्त है उत्कर्ष का सोपान
सुप्त हैं सब पाशविक अरमान
कल्पना को लग गई है पाँख
साधना की स्नेह - पूरित आँख

ज्ञान का, विज्ञान का सिरताज
हिन्द को, इस हिन्द पर है नाज
कौन, कैसा है, कहाँ का देश ?
सामने आये जरा तो आज !

मुल्क में अब है सुनहला राज
गिर नहीं सकती किसी पर गाज
बुद्धि - बल की होड़ में, सब एक
शत्रु से भिड़ते समय, सब एक

भूमि पर, उद्योग पर है राज
राष्ट्र का ही राज, केवल आज
व्यक्तिगत दुर्भावना से दूर
परम पुलकित हैं कृषक मजदूर

मुल्क का हर शख्स है सम्राट्
देश का प्रतिव्यक्ति ही है राष्ट्र
बढ़ रहा कर्त्तव्य - पथ पर अभय !
आज सब का हर कदम निर्विघ्न !!

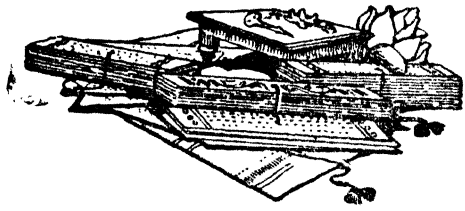

निराशा भी तो दो

दो, निराशा भी तो दो

हो नहीं अनुकूल यदि अभिसार तन का
हो अगर प्रतिकूल कहना प्यार मन का
चाँद की मुस्कान पर भी रोक हो यदि
याद की आशा, हृदय का शोक हो यदि

दो, दुराशा भी तो दो

नेह का ही हूँ नहीं; लौ का पुजारी
शब्द की ही भंगिमा मुझको न प्यारी
प्राण-प्रेमी चाहते हैं सप्तसुर को
ज्ञान मत दो तुम भले उद्विग्न उर को

दो, जिज्ञासा भी तो दो

मेघ आकर घेर लें जब नभ नयन का
तिमिर में आभास हो गति के शयन का
तो पुकारूँ मैं तुम्हें हरएक यति पर
दीप्ति मत दो तुम भले मेरी प्रगति पर

दो, कुहासा भी तो दो

पूर्णिमा ही ज्वार को देगी दबा जब
बालविधु की चाँदनी लेगी लहर कब ?
तुम उपेक्षा ही उदधि में भर भले दो
तृप्ति को मेरी नियति से हर भले लो

दो, पिपासा भी तो दो
दो, निराशा भी तो दो

जल रहा दिया

घिर गयी घटा, छटामें कालिमा भरी
आ गयी निशा कि सान्ध्य-लालिमा झरी
अङ्ग-अङ्ग काँप उठा, सिहरता हिया
अन्धकार हँस रहा कि जल रहा दिया !

गगन मूक, शान्त सरित, सुप्त-सी धरा
बदलियों में कौंधती है तड़ित्-अप्सरा
रो रहा है ! हाय पपीहा—पिया ! पिया !
कह रहा—जलो, जलो कि जल रहा दिया !

प्यार खो गया है कहीं, दिल न लग रहा
आँख सो रही है, किन्तु स्वप्न जग रहा
याद ने किसीकी चेतना को हर लिया
शलभ जल रहा है और जल रहा दिया !

आँधियोंके बीचमें भी लौ जगी रही
सिन्धु के भी बीच ज्योति ज्वाल बन रही
शलभ के सबल स्वरों में किसने यह कहा—
स्नेह तो नहीं है और जल रहा दिया !

झोपड़ी खड़ी इधर, उधर महल खड़ा
धूल है पड़ी इधर, उधर रतन जड़ा
एक दूसरे को दूर हमने है किया
किन्तु इधर और उधर जल रहा दिया !

विद्रोह का गायक बना हूँ !

आज मैं विद्रोह का गायक बना हूँ !

याद हैं लेकिन अभी मनुहार की बातें
याद हैं वे दिन सुनहले, रुपहली रातें
था नदी के तीर पर बंसी बजाता
दूर कोई मर्मभेदी गीत गाता
पास के ही कुंज में थी छिपा राधा
थी लजीली आँख में बस एक बाधा
सामने से जारहा था पथिक कोई
इसलिए थी प्रियतमा की प्रीति सोई

इस समय क्या जगत के लायक बना हूँ ?
आज मैं विद्रोह का गायक बना हूँ

चाँदनी की हवा लहरों पर थिरकती
प्रेयसी के चाँद से थी छवि छलकती
मैं चमकती रेत में था लोट जाता
चाँद ऊपर खिलखिलाता, डोल जाता
तारिकायें मुस्कुरातीं और गातीं
विहगियाँ नभ में कभी कुछ कूकजातीं
हरित दूर्वा पर प्रिया का स्वर्ण-सा तन
आँख अलसाई हुई-सी, जग रहा मन

किन्तु अब तो क्रान्ति का शायक बना हूँ
आज मैं विद्रोह का गायक बना हूँ

मस्तियों, रंगीनियों का वह जमाना
हाय ! उस चढ़ती जवानी का जमाना
एक ही धुन, एक ही उद्देश
प्यार से लिपटा हुआ सन्देश
घिर रही थी जब घटा घनघोर
आ रहा था मैं बना - सा मोर
तुम खड़ी थीं बाग में चुपचाप
देखकर ही मैं गया था काँप

मृत्यु, भय का आज परिचायक बना हूँ
आज मैं विद्रोह का गायक बना हूँ

भूल सकता मैं नहीं वह प्रण तुम्हारा
तुम सदा विजयी रहीं, मैं भी न हारा
और वहदिन कि जिस दिन था मैं चला परदेश
वेदना में छिप गया कैसे तुम्हारा वेश
डबडबायी आँख, थर्राया बदन
कह गया कुछ मूक होकर अधर का मन
शक्तिशाली प्राण मेरे लड़खड़ाये
गीत गीले नयन के मग छलछलाये

स्वयं ही मैं आज दुखदायक बना हूँ
आज मैं विद्रोह का गायक बना हूँ

दूर थी सब फिक्र दुनिया की, बहुत ही दूर
मैं रहा सौंदर्य की ही साधना में चूर
रातदिन सपने मनोहर, कुसुम-गन्धित सेज
लता-सी कोमल भुजा में साँस की गति तेज
मिलनका सुख, विरहका दुख, था यही संसार
आसुओं, मुस्कान का ही चल रहा व्यापार
नित नयी कविता, नये अरमान
नित नयी घटना, नये आख्यान

शोषितों का विप्लवी नायक बना हूँ
आज मैं विद्रोह का गायक बना हूँ

अवसरवादी

तममें चाँदी के टुकड़े को, जिसने ध्रुव है माना
उड़ा व्योम में व्यर्थ, न जिसने भू का उर पहचाना
युग को नहीं, युक्ति को जिसकी प्रतिभा ने अपनाया
रहा लक्ष्य जिसका जीवनभर अर्थ-कीर्ति की छाया

हानि-लाभ जिसका अपने तक ही सीमित रह जाता
चाटुकारिता की अनुकम्पा को जो शक्ति बनाता
अन्यों का उत्कर्ष न जिसने फूटी आँखों देखा
विदु प्रशंसक की जिसने, दिखलाई उज्ज्वल रेखा

आँखों ने जिसकी, न कभी थाही उर की गहराई
पथ निर्दिष्ट हुआ न कभी, पर पथ की सीमा आई
जिसन सदा स्वार्थ पर ही है प्यार प्रहार लुटाया
प्राणों को तो समझ न पाया, देखी केवल काया

अवसर की आशा पर जिसका रथ तेजी से चलता
सुषमा की सीधी भाषा को शब्दों से जो छलता
है बहती गंगा में डुबकी लगा बन गया नेता
ज्योतिपुंज होकर भी जगको घोर अँधेरा देता

यदि होता सम्मान आज उसका तो बेशक हो ले
सपने में वह भले बीज की जगह रत्न ही बो ले
पर कल की तो घटा समझ के साथ बरसनेवाली
उतर रही शीतल कर से पीने कैतव की लाली !

रंगीनियाँ

आकाश नीला-नीला
घटाएँ काली-काली
यह चाँद गोरा-गोरा
यह मकई पीली-पीली

× × ×

हरे - हरे खेत हैं
लाल - लाल साड़ियाँ
कविता को रँग रही हैं
सावनी रंगीनियाँ !!!

तारे आए, रात हो गई

तारे आए, रात हो गई !

दिनभर का तन हारा-हारा
पाता है अब शीत - सहारा
आतप - सरि की धारा में थक
प्राण पा रहे नैश किनारा

राका आकर धरा धो गई
तारे आए, रात हो गई !

उर - उमंग उर्मिल हो उठती
लौ नेही से थरथर डरती
किरन कुमुद के अधरों पर हँस
चन्दा से हौले कह देती—

—"श्यामा तो अवदात हो गई !"
तारे आए, रात हो गई !

'यशस्विनी' की समीक्षा

श्रीमोहनसिंह सेंगर, भूतपूर्व सम्पादक—'विशाल भारत', वर्तमान सम्पादक 'नया-समाज' (२०-१२-४५)

('यशस्विनी' की एक कविता, 'एक दिन ऐसा आएगा' जिसमें १९४५ में ही बापू की हत्या की भविष्यवाणी की गई थी, पर सम्मति)

—"सचमुच आपकी यह चीज बेजोड़ और गर्व करने लायक ही है। जी में आता है, इसके लिखनेवाले की कलम चूम लूँ।"

'साहित्य-सन्देश'— आगरा (फरवरी १९४६)

—"संसार की वस्तुओं को कवि अपनी दृष्टि से देखता है। अपनी भावना से उनकी परख करता है, हृदय के सौन्दर्य से सजाकर उन्हें अपने मस्तिष्क की सजीवता प्रदान करता है।"

'आजकल'—दिल्ली (जून १९४६)

—"···निश्चय ही कवि की अनुभूतियाँ, स्वच्छन्द और वेगवती होकर इन कविताओं में प्रवाहित हुई हैं।"

'हिमालय'—पटना (अगस्त १९४६)

—"रेल' में भावना और कल्पना का सामञ्जस्य आकर्षक है। 'फाँसी' और 'असहभार' अपने भावावेग के कारण हृदय पर एक गहरी छाप छोड़ती हैं। अन्यान्य कविताओं में भी कवि की अनुभूतियाँ कल्पना के साथ घुलमिल गई हैं। उनमें हृदय के उच्छ्वास की मधुरता और कोमलता के साथ भाषा की ओजस्विता भी है।"

'कौमुदी'—दिल्ली (मई १९४६)

—"यशस्विनी' को आद्योपान्त पढ़कर कवि की प्रतिभा और महानता की छाप सी पड़ जाती है।"

'स्वदेश'—पटना (११-८-४९)

—"कवि श्रीब्रजकिशोर 'नारायण' की वाणी में मार्मिक अनुभूति और ओजस्विता का समन्वय है, इनकी काव्य-साधना जीवन के साथ चलकर यथार्थ की अनुभूति के साथ साथ सृजन एवं संघर्ष की प्रेरणाएँ भी प्रस्तुत करती है।"

'शान्ति'—लाहौर (जनवरी १९४७)

—"यशस्विनी' की एक नहीं, प्रत्येक रचना ध्यान और गम्भीरता से पढ़ने के योग्य है। भाषा और भावना का सांस्कृतिक वातावरण जितना यथार्थ और सरस है, वह कहा नहीं जा सकता !

'समाज'—काशी (१२-२-४७)

—"कवि की प्रमुख विशेषता यह है कि वह जो कुछ कहना चाहता है, सीधे और सरल शब्दों में अभिव्यक्त करता है। विद्रोहात्मक कविताओं में भी उसकी दृष्टि सर्जनात्मक है, ध्वंसात्मक नहीं। भाषा सरल, मुहावरेदार और चलती हुई है। 'खेत में धान रोपती बाल' में एक दृश्य का सरल और सुन्दर तथा स्वाभाविक चित्रण बन पड़ा है।"

'हिन्दी मिलाप'—लाहौर (१७-१२-४६)

—"कविता की भाषा और भावना में जो प्रांजलता है, उस पर हिन्दी-कविता-साहित्य को गौरव हो सकता है।"

'आर्यावर्त्त'—पटना (२६-१०-४६)

—"कविताएँ छोटी हैं, किन्तु सभी में कवि की कोमल भावनाओं का स्निग्ध स्रोत इस प्रकार उमड़ पड़ा है, जिसमें पाठक अपने को खोकर, अवगाहन में तल्लीन हो जायेंगे। स्निग्ध प्रवाह, सुमधुर भाव, कोमलकान्त शब्दमाला। पंक्ति-पंक्ति में कवि की भावना, सरस और सरल रीति से शब्दमाला के अवगुण्ठन के भीतर से अनुपम श्रीदान कराती है। मैं निस्संकोच कह सकता हूँ कि यदि प्रगतिशील कविताओं की सुखानुभूति करनी हो तो वह 'यशस्विनी' की कविताओं में मिलेगी।"

'राष्ट्रवाणी'—पटना (२५-११-४६)

"कविताएँ अपनी सरलता, तरलता और मार्मिकता के कारण पाठकों का मन मोह लेती हैं।"

'राष्ट्रदूत'—पटना (१२-६-४६)

"श्रीब्रजकिशोर 'नारायण' हिन्दी के उन मनस्वी कवियों में हैं, जिनकी रचनाओं द्वारा राष्ट्र-वाणी के अंचल में मूल्यवान निधियाँ संग्रहीत हो रही हैं। श्री ब्रजकिशोर 'नारायण' जी को 'यशस्विनी' में जो सफलता मिली है, उसे देखते हुए आशा है कि उनके द्वारा राष्ट्र-भारती के भाण्डार में निरन्तर अन्यान्य निधियाँ भरी जाती रहेंगी।"

'बालक'—पटना (जून १६४६)

—"...यह स्पष्ट है कि कवि अचेत नहीं है बल्कि सचेत और जागरूक है। युग की चेतना से वह परिचित है और प्रेरित भी।"

'तिरहुत-समाचार'—मुजफ्फरपुर (१६४६)

—"प्रस्तुत संग्रह 'यशस्विनी' की प्रत्येक कविता भाषा और भाव की दृष्टि से साहित्य की बहुमूल्य देन है।"

'सिंहनाद' की समीक्षा

महाकवि हरिऔधजी,--बनारस (२३-२-४१)

—"तुम जिस लगन से हिन्दी की सेवा कर रहे हो, वह प्रशंसनीय है, इसके लिए मैं तुम्हें साधुवाद देता हूँ। कविता भी तुम्हारी अधिक शुद्ध और सुन्दर होती है, यह प्रशंसनीय ही नहीं, तुम्हें गौरवदायिनी भी है।"

महाकवि मैथिलीशरण गुप्तजी,—चिरगाँव (१४-१२-४०)

—"'सिंहनाद' आप के युवकोचित उत्साह का ओजस्वी परिचायक है।"

कविवर पं० उदयशंकर भट्ट—लाहौर (४-१२-४०)

—···"'नारायण' की शैली में अभिव्यंजना की तेजी है।"

कविवर श्री हरिकृष्ण 'प्रेमी', लाहौर (२५-८-४०)

—···"'नारायण' को एक बलवान आत्मा प्राप्त है।"

'हिन्दी-मिलाप',—लाहौर (१४-१२-४०)

"···ब्रजकिशोर 'नारायण' का 'सिंहनाद' अपने ढंग का निराला ग्रन्थ है। बीसवर्षीय कवि ने अपने मनोभावों को अत्यन्त ही ओजपूर्ण शब्दों में अभिव्यञ्जित किया है।"

साप्ताहिक 'विश्वबन्धु'--लाहौर (१५-१२-४०)

···"'सिंहनाद' में कविता-कामिनी की लचक नहीं, रुद्र-कण्ठ का क्रुद्ध-गर्जन है। भाषा विषय की अनुगामिनी—ओजस्विनी है।"